राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून का अर्थशास्त्र

सचिन कुमार जैन

भारत की संसद ने खाद्य सुरक्षा को एक अधिकार के रूप में मान्यता देकर एक ऐतिहासिक काम किया है। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून (2013) बनने का मतलब है सरकार का भुखमरी, कुपोषण और खाद्य असुरक्षा की स्थिति में जवाबदेह बन जाना। हालांकि हमें यह स्पष्ट रूप से पता होना चाहिए कि अब भी खाद्य सुरक्षा या भुखमरी से मुक्ति भारतीय संविधान के तहत मौलिक अधिकार नहीं है। इसलिए दूर की ही सही पर यह आशंका बनी रहेगी कि इस कानून को कभी भी खत्म किया जा सकता है।

इस कानून पर चली बहसों में जो पक्ष उभरे उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग जो यह मानता है कि सरकार ने बहुत लम्बे समय के बाद एक अच्छा कानून बना दिया है और इसमें अनाजों के अधिकार के जो प्रावधान किए गए हैं उनसे भुखमरी मिट जाएगी। दूसरा वर्ग यह मानता है कि कानून बहुत ज़रूरी कदम था और है, परन्तु इसमें किए गए प्रावधान भुखमरी और खाद्य असुरक्षा के मूल कारणों से लड़ने के मामले में कमज़ोर हैं। यानी किसानों और प्राकृतिक संसाधनों से सम्बंधित नीतियों और उन आर्थिक नीतियों की आलोचनात्मक समीक्षा का अभाव है, जो असमानता बढ़ा रही हैं। वे यह भी मानते हैं कि इस कानून में जिस खाद्य सुरक्षा की बात की गई है, उसमें पोषण की सुरक्षा का कोई स्थान नहीं है। तीसरा वर्ग कहता है कि सरकार राजनीतिक लाभ के लिए 1.25 लाख करोड़ रुपए रियायत (सब्सिडी) के रूप में बर्बाद कर रही है। इस कदम से आर्थिक विकास के लिए ज़रूरी सुधार (यानी जनकल्याणकारी कार्यक्रमों पर सरकारी खर्च और सब्सिडी कम करने के उपाय) की प्रक्रिया को आघात पहुंचेगा। वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि देश में मौजूदा कुपोषण और खाद्य असुरक्षा के चलते आर्थिक विकास खोखला है। यह कहना भी गैर-वाजिब है कि इस काम पर होने वाले व्यय से कोई रचनात्मक लाभ नहीं होगा। लोगों को देने के लिए अनाज तो किसानों से ही खरीदा जाएगा न? इससे किसानों को साल भर में 80 हज़ार करोड़ रुपए का न्यूनतम समर्थन मूल्य मिलेगा। इस तरह की कई सच्चाइयों को समझना होगा।

इस बहस में उभरे कई सवाल बहुत महत्वपूर्ण भी हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) में व्याप्त भ्रष्टाचार (अध्ययनों के आधार पर माना जाता है कि लगभग 35 प्रतिशत संसाधन भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाते हैं) को खत्म किए बिना इस कानून के तहत दिए गए अधिकार लोगों तक पहुंच पाएंगे, इस पर शंका बरकरार है। हाल ही में बने कानून में भ्रष्टाचार के लिए ज़िम्मेदार लोगों को सज़ा देने के लिए बहुत कमज़ोर प्रावधान हैं। यह एक सच्चाई है, पर इस आधार पर यह तर्क देना कि सरकार को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून नहीं बनाना चाहिए था, बहुत ही गैर-वाजिब तर्क था।

बेहतर होता यदि सरकार पर और दबाव बनाया जाता कि वह पीडीएस, मध्यान्ह भोजन और आंगनवाड़ी जैसे कार्यक्रमों में ढांचागत विकास, उनकी गुणवत्ता बढ़ाने और उनकी सामुदायिक निगरानी के लिए स्पष्ट और ठोस प्रावधान बनाए। लोक सभा और राज्य सभा में इस विधेयक पर हुई बहसों में इन सभी पहलुओं पर बात हुई, पर अंततः वह औपचारिकता ही साबित हुई। विपक्ष ने भी सरकार को कमज़ोर कानून बनाने में समर्थन दिया।

बार-बार यह प्रचारित किया जा रहा है कि सरकार को इस कानून के क्रियान्वयन के लिए सवा लाख करोड़ रुपए का नया आवंटन करना पड़ेगा। वस्तुतः यह झूठा प्रचार है। वास्तव में आज सरकार वैसे ही 97 हज़ार करोड़ रुपए इस पर खर्च कर रही है। उसे कानून के क्रियान्वयन के लिए नई व्यवस्था बनाने (जैसे राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा आयोग, पीडीएस का कम्प्यूटरीकरण आदि) पर 25 हज़ार करोड़ रुपए का नया आवंटन करना होगा।

नया कानून न बनता तब भी यह खर्च तो होना ही था

क्योंकि पीयूसीएल बनाम भारत सरकार के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने भी सरकार को पीडीएस में ढांचागत बदलाव की व्यवस्था बनाने के आदेश दिए हैं। इसके अलावा एकीकृत बाल विकास परियोजना यानी आंगनवाड़ी और स्कूल में मध्यान्ह भोजन योजना भी पहले से ही चल रही है। सभी महिलाओं के लिए मातृत्व अधिकारों (छह माह के लिए 1000 रुपए प्रति माह की राशि का प्रावधान) की व्यवस्था एक नया और महत्वपूर्ण कदम है ताकि गर्भावस्था से लेकर प्रसव के बाद कुछ महीनों तक स्त्री को आराम, पौष्टिक आहार और ज़रूरी स्वस्थ्य सेवाएं मिल सकें। जच्चा मृत्यु दर, नवजात शिशु मृत्यु दर और बाल मृत्यु दर को कम करने और बच्चों-महिलाओं में कुपोषण को रोकने के लिए यह अत्यंत ज़रूरी कदम माना जाना चाहिए। एक तरफ तेज़ी से हो रहा आर्थिक विकास और दूसरी तरफ कुपोषण का ऊंचे स्तर पर बने रहना; यह विरोधाभासी स्थिति है। कुछ लोग सम्पन्न होते जाएं और हर दो में से एक बच्चे का शारीरिक-मानसिक विकास अवरुद्ध रहे; यह स्थिति भारतीय लोकतंत्र के चारित्रिक पतन की सूचक मानी जा सकती है। सरकार की ज़िम्मेदारी थी कि वह इस स्थिति के संदर्भ में अपना पक्ष स्पष्ट करे।

अर्थशास्त्री सबीना अलकेर के मुताबिक भारत में अन्य देशों की तुलना में सबसे ज़्यादा वृद्धि-बाधित बच्चे हैं, फिर भी भारत सामाजिक सुरक्षा पर मध्यम आय वाले एशियाई देशों की तुलना में आधा ही खर्च करता है।

डेनमार्क, स्वीडन ऐसे देश हैं जहां वे अपने सकल घरेलू उत्पाद का 40 से 50 प्रतिशत तक कर राजस्व इकट्ठा करते हैं; भारत में यह स्तर 20 प्रतिशत से नीचे है। इतना ही नहीं, सरकार आर्थिक विकास के नाम पर लगभग 6 लाख करोड़ रुपए (कुल करों के बराबर की राशि) की छूट दे देती है। इससे हमारे राजस्व आधे रह जाते हैं। बेहतर होगा कि इन दो बिन्दुओं पर ठोस काम करके वह अपना राजस्व बढ़ाए। भ्रष्टाचार को खत्म करने और नव-उदारवादी नीतियों के विलासितापूर्ण खर्चों (जैसे कॉमनवेल्थ खेलों पर 57 हज़ार करोड़ रुपए का व्यय) को रोकने की दिशा में हमारे उन नीतिकारों और विद्वानों की आवाज़ नहीं निकलती है जो राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून बनाए जाने का खूब विरोध कर रहे थे; आखिर क्यों? यह प्रतिबद्धताओं में अंतर का प्रमाण है।

वास्तव में अंतर नज़रियों और प्रतिबद्धताओं का ही है। नव-पूंजीवादी नज़रिया मानता है कि इस कानून पर होने वाला खर्च रियायत या सब्सिडी है, जो कभी वापस नहीं आएगी, जबकि वास्तविकता यह है कि गरीबी, कुपोषण और वृद्धि-बाधित बचपन की चुनौती से जूझ रहे भारत के लिए यह दीर्घावधि विकास के लिए किया गया निवेश है। भुखमरी-कुपोषण से मुक्त होकर ही हम समतामूलक विकास कर सकते हैं। ऑक्सफोर्ड की अर्थशास्त्री सबीना अलकेर ने *दी हिन्दू* में लिखा था कि भारत में दुनिया के दूसरे देशों की तुलना में सबसे ज़्यादा वृद्धि-बाधित (स्टन्टेड) यानी जीर्ण कुपोषण से ग्रस्त बच्चे हैं, फिर भी भारत सामाजिक सुरक्षा पर मध्यम आय वाले एशियाई देशों की तुलना में आधा ही खर्च करता है। एशिया के उच्च आय वाले देशों की तुलना में तो भारत का सामाजिक सुरक्षा व्यय महज़ 20 फीसदी है। मध्यम आय वाले एशियाई देश सामाजिक सुरक्षा पर अपने सकल घरेलू उत्पाद का 3.4 प्रतिशत व्यय करते हैं, जबकि भारत 1.7 प्रतिशत व्यय करता है। हम इस स्तर पर भी महात्मा गांधी ग्रामीण रोज़गार गारंटी योजना (मनरेगा) के व्यय के कारण पंहुचे हैं। उच्च मध्यम आय वाले एशियाई देश जीडीपी का औसतन 4 प्रतिशत और उच्च आय वाले देश 10.2 प्रतिशत सामाजिक सुरक्षा पर व्यय करते हैं। जापान 19.2 प्रतिशत और चीन 5.4 प्रतिशत इस मद पर खर्च करते हैं। यहां तक कि सिंगापुर सामाजिक सुरक्षा के लिए भारत से दुगना यानी 3.5 प्रतिशत खर्च करता है।

एक तबका मानता है कि मनरेगा और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून जैसे कदमों से लोग आलसी हो रहे हैं और श्रम की कमी के कारण खेती और उद्योग नकारात्मक रूप से प्रभावित होंगे। सच तो यह है कि इन कदमों से असंगठित क्षेत्र में चल रहा शोषण कम होगा। यह कानून भुखमरी और कुपोषण की समस्या को जड़ों से तो नहीं हटाएगा पर इससे एक प्रक्रिया की शुरुआत ज़रूर होगी। ***(स्रोत फीचर्स)***